



ब्रिटेन में भारतीय प्रवासी समाज एवं पहचान

डॉ. मुलायम सिंह

पीएच.डी, भारतीय भाषा केंद्र, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, भारत

प्रस्तावना

ब्रिटेन में भारतीयों के प्रवास की प्रक्रिया ऐतिहासिक कालक्रमानुसार विभिन्न चरणों से गुजरती हुई खुद की एक स्वतंत्र सामाजिक पहचान निर्मित करने में सफल हो सकी है। लेकिन लेखक का उद्देश्य यहाँ प्रवास के ऐतिहासिक चरणों और कारणों की गहराई में न जाकर बल्कि यह जानना आवश्यक है कि ब्रिटेन के अंदर जब ये भारतीय प्रवासी पहुँचे तो किस तरह उन्होंने अपना एक प्रवासी समाज निर्मित किया? अपनी भाषा, धर्म, समाज की रीति-रिवाज और भारतीय संस्कृतिक परंपरा को बनाए रखने के लिये किस प्रकार का संघर्ष किया? पराये देश की सामाजिक संरचना में अपना अस्तित्व स्थापित करने एवं अपनी मेहनत के माध्यम से वहाँ के सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक व्यवस्था में अपना प्रभाव जमाने हेतु उन्हें किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा? प्रवासी भूमि पर अपनी भारतीय दुनिया रचने के लिये किन परिस्थितियों से गुजरना पड़ा? इसके साथ ही उसके अंतर्विरोध क्या हैं इत्यादि उपरोक्त सवालों के परिप्रेक्ष्य में हम भारतीय प्रवासी समाज का यहाँ विश्लेषण करने की कोशिश करेंगे।

ब्रिटेन में भारतीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया के बारे में भारतीय मूल की प्रवासी हिंदी लेखिका उपाराजे सक्सेना लिखती हैं कि इमिग्रेशन की दृष्टि से देखा जाये तो 60 के दशक में पहला मेहनतकश आप्रवासी भारतीय समुदाय यानी पंजाब का उद्यमी ब्रिटेन पहुँचा जिसकी प्रादेशिक भाषा पंजाबी थी। ये प्रवासी अपनी रोजी-रोटी की व्यवस्था में अत्यंत व्यस्त रहे, फिर भी उस दशक में विभिन्न समुदायों के लोगों ने मिलकर अपनी सभ्यता और संस्कृति को संजोए रखने के लिए बहुत प्रयास किये। एक ओर रमेश पटेल और धर्मेन्द्र गौतम जैसे अहिंदी भाषी ने 'नवकला' के ऑफिस (8-ग्रेट रसल स्क्वायर) में हिंदी की कक्षाएं चलाई, तो वहीं दूसरी ओर 1970 के अगस्त माह में श्री जगदीश कौशल, डॉ.श्याम मनोहर पांडे, डॉ. विष्णुदेव नारायण, कृष्ण कुमार खरे, रामजी, हरि जोशी जी आदि ने साउथ हॉल में अपने सहयोगियों के साथ प्रतिमाह

रोटेशन में मानस चतुष्पदी समारोह समिति द्वारा हिंदी-भाषा, धर्म और संस्कृति संजोने का कार्य आरंभ किया।¹

भारत के विदेश मंत्रालय के द्वारा 2001 में प्रवासी भारतीयों पर एक उच्च स्तर की समिति का गठन किया गया था जिसकी रिपोर्ट (Report of the high level committee on the Indian Diaspora) में वर्णित है कि ब्रिटेन में पहली पीढ़ी के प्रवासियों ने अपने पारंपरिक रीति-रिवाज, धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों के साथ अपने जीवन को स्थापित किया लेकिन दूसरी और तीसरी पीढ़ी के भारतीयों को सामंजस्य बनाने में दिक्कतें महसूस होने लगी। हालांकि वर्चस्ववादी समाज के भेदभाव के दबाव ने अल्पसंख्यक प्रवासियों को पुनः अपने परंपरागत जीवन ढंग से जुड़ने को प्रेरित किया। चूंकि 50 और 60 के दशक में प्रवासित हुये समुदायों को ब्रिटेन में अपने पारंपरिक जीवन ढंग और संस्कृति के साथ सामंजस्य स्थापित करने में काफी कठिनाई आयी क्योंकि वह मेजबान देश की मुख्यधारा के समाज से पूर्णतः भिन्न थी।²

अपनी किताब 'ब्रिटेन में हिंदी' में उपाराजे सक्सेना ने भारतीय प्रवासियों का ब्रिटेन में आगमन और वहाँ बसने के प्रक्रिया का वर्णन करती हुयी कहती हैं कि 70 के दशक के आरंभ और मध्य में अल्पसंख्या में और मध्यम गति से हिंदी जानने और बोलने वाले प्रोफेशनलों का ब्रिटेन में आना आरंभ हुआ। ये लोग अधिकांशतः वैज्ञानिक व्यावसायों से जुड़े हुए थे। ये हिंदी जानने वाले 'प्रोफेशनल्स' अंग्रेजी भाषा में पूरा दखल रखते थे, अतः इन्होंने अपनी पारिवारिक भाषा इंग्लैण्ड आने के बाद अंग्रेजी बना ली। ये आप्रवासी चूंकि विभिन्न व्यवसायों से संबंध रखते थे, अतः इनकी रिहाइश भी किसी एक शहर या बस्ती में नहीं हुयी। विभिन्न शहरों में रहने के कारण इन भारतीयों का आपस में मिलना जुलना नहीं रहा, जैसा कि बाद में आये गुजराती समुदाय के बीच हुआ। इन भारतवंशियों के ब्रिटेन आने का एक

¹ सक्सेना, उपाराजे, ब्रिटेन में हिंदी, दिल्ली, मेधा बुक्स, 2006, पृ- 33

² India. High Level Committee on the Indian Diaspora, *Report of the high level committee on the Indian Diaspora*, Ministry of External Affairs, New Delhi, 2001, P. 122-123.

मात्र लक्ष्य था व्यवसाय को बढ़ाते हुए धन अर्जित करना और अपना व्यक्तिगत विकास करना। लेकिन अपनी संस्कृति को बचाए रखने के लिए उनमें से कुछ सजग आप्रवासी भारतीय आरंभ से ही रामायण और गीता के पाठ द्वारा आपस में जुड़ने लगे।”³

प्रवासी भारतीय समाज की दुनिया और उसकी यथा स्थिति के बारे में साहित्यकार डॉ. विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं कि “जो लोग अपनी धरती पर नहीं लौट पाते, वे जहां रहते हैं वहाँ अपनी धरती का टुकड़ा अपने लिए रच लेते हैं...आदमी सब चीजों के अनुकूल अपने आप को बना लेता है, लेकिन उसका अपना कुछ जातीय स्वाद होता है।..आदमी भले ही अपने को विदेशी चाल-ढाल में ढालने की कोशिश करे, ढाले भी ले, पर वह कहीं न कहीं स्वदेश के लिए तड़पता ही रहता है। यही तड़पन उसे कभी देश वापस लाती है तो कभी मित्रों के बीच संवाद कराती है, तो कभी लेखन और अन्य सांस्कृतिक कार्यों में उभरती है।”⁴

स्वर्णलता ठन्ना प्रवासी समाज के बारे में अपने एक लेख ‘हिंदी के प्रवासी साहित्य की परंपरा’ में लिखती हैं कि विगत समय के प्रवासी समाज की तुलना में वर्तमान का प्रवासी समाज एक अजीब सी कथमकथ में जी रहा है। प्रवास में बसे भारतीयों की नवीन पीढ़ी को आधुनिक समय की परिवर्तित परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। इनकी प्रमुख समस्या के रूप में जो चीज उभर कर आई है वह भाषा है। इनकी प्रथम भाषा अंग्रेजी है। निसंदेह हिंदी भाषा को इस संकट का सामना करना ही था। वर्तमान प्रवासी पीढ़ी के इस सामाजिक, सांस्कृतिक और पारिवारिक तनाव से उत्पन्न इस खोखलेपन की अभिव्यक्ति भी प्रवासी साहित्य सृजन का आधार बन रही है। प्रवासियों के अनेक विरोधाभासों तथा विसंगतिपूर्ण जीवन के बारे में कई दशकों तक ब्रिटेन में रहने वाली लेखिका उपाराजे सक्सेना ने ठीक ही लिखा है कि कभी व्यक्ति खुद को थाली का बेंगन समझता है तो कभी धोबी का कुत्ता, न घर का न घाट का। नये परिवेश में अमित सुखों के बीच रहते हुए भी वह पलट-पलटकर पीछे की ओर देखता है, जहाँ से वह आया है।⁵

प्रवासी समाज की मानसिकता तथा यथार्थ स्थिति के बारे में कृष्ण किशोर अपने एक लेख ‘प्रवासी मानसिकता: भाषा और सृजन’ में लिखते हैं कि प्रवास में दो अलग संस्कृतियों के वृत्त एक दूसरे की परिधि को छूते भर हैं। कोई बड़ी सांझी जगह नहीं बनाते। किसी न किसी तरह मौजूदा परिवेश के, मौजूदा

जीवन के साहसिक अनुभव अगर हमारी जिन्दगी का हिस्सा नहीं बनते, हम उस स्थान की पूर्णता को आत्मसात नहीं कर सकते। Adventure यानी साहसिकता अपने परिवेश से बाहर जाने की स्थिति का नाम है, जोखिम चाहे हो या न हो। एक सीमित सा, केवल कामकाजी क्षेत्र तक ही सीमित जीवन, अपनी आर्थिक प्रगति और बच्चों के भविष्य तक या तीज-त्योहारी शौक पूरे कर लेने तक का जीवन प्रवास को असली प्रवास भी नहीं रहने देता।..... मैं यहाँ उन प्रवासियों का जिक्र कर रहा हूँ जो अपनी शिक्षा की आखिरी सीढ़ी पर या आजीविका के लिए यहाँ आए। अपने ही जीवन, परिस्थितियों, मान्यताओं का संघर्ष इसलिए उनके जीवन में अधिक है। एक द्वन्द्व है, एक conflict, एक लड़ते जाने की जिजीविषा या टिक कर बैठ जाने का एहसास एक प्रवासी एहसास जरूर है। लेकिन स्मृति दंश भी ऐसा नहीं कि लौट जाने की छटपटाहट बनी रहे। अस्थाई भावुक क्षणों का उद्गार नॉस्टेलजिया की सृजन भूमि नहीं बनती।⁶

इसी लेख में आगे कृष्ण कुमार जी प्रवासी समाज का भाषाई जुड़ाव की दृष्टि से विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि कहीं न कहीं सभी प्रवासी अपनी मूल संस्कृति, मूल परम्परा और मानस से स्वभावतः या प्रकृतिजन्य रूप से जुड़े रहते हैं। यह जुड़ा रहना अवसरों, कुअवसरों पर बाहर भी झाँकने लगता है। परम्परायें, रीति-रिवाज, लोक जीवन में रची-बसी गहरी आकृतियाँ, मौसम-बेमौसम हमारे व्यवहार, हमारी स्मृति और हमारी पहचान को उकेरती रहती हैं। भाषा का इस एहसास से बड़ा सीमित सा रिश्ता रह जाता है। सिर्फ़ उन लोगों में भाषा इस एहसास का अहम् हिस्सा बनती है जो काफी देर से, परिपक्व अवस्था में अपना परिवेश छोड़ कर यहाँ आ बसे। जिन का बचपन अपने भाषायी परिवेश में बीता, जिनकी शिक्षा अपने ही वातावरण में हुई, चाहे किसी भी भाषा में हुई हो, उनका जुड़ाव अपने भाषायी एहसास से भी बड़ा घना बना रहता है। बचपन से ही जो अपने वातावरण से कट कर बाहर चले गये, उन्हें ‘कहीं और’ होने के एहसास के अलावा दूसरा कोई विच्छेदन कोंचता नहीं रहता। अपनी भाषा से टूटना उनके लिये औपचारिक या अनौपचारिक रूप से नगण्य बन जाता है। इसी लेख के आगे की कड़ी में प्रवासी समाज की मानसिकता और आवासीय देश में दोहरे चरित्र की समीक्षा करते हुए लेखक कहता है कि- घरों से बाहर भारतीय समूह अधिकतर जिन स्थलों पर इकट्ठा होते हैं, उन का सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार उनके धर्म से जुड़ा रहता है। हिन्दू धर्म वाले अपने अलग-अलग मन्दिरों में इकट्ठा होते हैं, सिख अलग, मुसलमान अलग और

³ सक्सेना, उपाराजे, ब्रिटेन में हिंदी, दिल्ली, मेधा बुक्स, 2006, पृ- 26

⁴ गगनांचल, प्रवासी अंक, अक्टूबर-दिसंबर, 2002, अंक-4, पृ. 12-13।

सक्सेना, उपाराजे, ब्रिटेन में हिंदी, दिल्ली, मेधा बुक्स, 2006, पृ- 26

⁵ ठन्ना, स्वर्णलता, हिंदी के प्रवासी साहित्य की परंपरा, जनकृति अंतरराष्ट्रीय पत्रिका, दिसंबर- 2016, वर्ष-2, अंक-22

⁶ कृष्ण किशोर, प्रवासी मानसिकता: भाषा और सृजन,

<http://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=722&pageno=1> access on 15/05/2017.

थोड़े से ईसाई अपने अलग धर्मस्थलों पर। शादी-ब्याह या विशेष समारोहों की बात अलग है। होली, दीवाली जैसे सामाजिक पर्व भी धर्मस्थलों पर ही मनाए जाते हैं। सांस्कृतिक तथा अन्य सामाजिक, पारिवारिक समारोह सब धर्मस्थलों पर ही आयोजित होते हैं। वहां धर्म जैसी नितान्त निजी और सांस्कृतिक पद्धतियां अंग्रेज़ी या विदेशी भाषा में ही निभाई जाती हैं। धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन भी विदेशी भाषा में होता है। गीता का कृष्ण विदेशी भाषा में बोलता है। भारतीय उपनिषदिक दर्शन विदेशी भाषा में व्याख्यायित होता है। ऐसा नहीं है कि वहां के अधिकतर लोगों को सिर्फ दूसरी भाषा बोलने और सुनने की आदत होती है। ठीक इस के विपरीत इन श्रोताओं और श्रद्धालुओं में सिर्फ विदेशी भाषा बोलने-सुनने वाले हमारे युवक-युवतियाँ कम ही होते हैं। प्रवासी भाषा में उड़ेला गया गीता का व्याख्यान या अन्य धार्मिक प्रवचन कितने लोगों के कानों से आगे प्रवेश करता है, यह भी कोई जानने लायक चीज़ नहीं है। अंग्रेज़ी या किसी अन्य विदेशी भाषा में होने वाले सारे वार्तालाप एक बिल्कुल सतही, असम्बद्ध, एक तरफ़ा वाक्य विसर्जन के अतिरिक्त ऐसे अवसरों पर कोई अर्थ नहीं रखते। थोड़ी बहुत निजता का अवसर जो अपनी भाषा में वार्तालाप करने से स्थापित हो सकता है, जो सांस्कृतिक एकता का एहसास पैदा हो सकता है, जो थोड़ा बहुत धर्म में अच्छा देने के लिए है, उस सब से ये मानवसमूह वंचित रह कर आऊटिंग के रोमांच से भरकर अपने घरों को लौट जाते हैं। अफसोस इस बात का है कि सिर्फ अपनी भाषा का प्रयोग करने मात्र से इस तरह के सम्मेलन उन लोगों को कुछ देर के लिए ही सही, एक ऐसे रस से भर सकते हैं, ऐसी तृप्ति दे सकते हैं जो सज-संवर कर अपने आईने के सामने खड़ा होने में मिलती है। प्रवासी भाषा का तिड़का हुआ आईना थाम कर ये लोग न अपना रूप देख सकते हैं, न अपने सामने वाले का।⁷

इस प्रकार उपरोक्त विश्लेषण के फलस्वरूप यह स्पष्ट होता है कि प्रवासी भारतीय जब किसी बेगानी धरती या देश में पहुँचते हैं तो उनका पहला प्रयास यह होता है कि किसी तरह अपने आप को वहाँ स्थापित करें। इस प्रक्रिया में तमाम कठिनाइयों से गुजरते हुए जब प्रवासी समुदाय गुजर-बसर करने हेतु आर्थिक स्रोतों की तलाश कर स्थायित्व प्राप्त कर लेता है तो वह परिवार या समाज के अंदर अपनी भाषा और संस्कृति को लेकर चिंतित होता है। उसकी अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति मोह उसे प्रवासी समुदाय के अंदर एक सामूहिक भावना विकसित करने को प्रेरित करती है। अपने स्वदेश के अनुभवों और स्मृतियों के बल पर ये प्रवासी एक नये भारतीय समाज की रचना शुरू करते हैं। इस नए निर्मित समाज के मूल में स्वदेश की भावना तो निहित होती है मगर साथ में स्थानीय समाज

का प्रभाव भी समाहित होता है। स्थानीयता का यह प्रभाव एक मिश्रित समाजिक-संस्कृति को जन्म देता है जिसे वर्णसंकर संस्कृति कहते हैं। शुरूआत में स्थानीय देश की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना भारतीय प्रवासी समाज को भाषा एवं संस्कृति दोनों स्तर पर चुनौती पैदा करती है। उपनिवेशी मानसिकता तथा तीव्र जिजीविषा शक्ति के चलते प्रवासी भारतीय समाज विदेशी भूमि पर अपनी जड़ें तो जमा लेता है किंतु प्रतिरोध एवं समायोजन की प्रक्रिया से गुजरते हुए एक नए प्रवासी भारतीय समाज की रचना अस्तित्व में आती है। जिसे हम भारतीय प्रवासी समाज कह सकते हैं।

संदर्भ सूची

1. सक्सेना, उपाराजे, ब्रिटेन में हिंदी, दिल्ली, मेधा बुक्स, 2006, पृ- 33
2. India. High Level Committee on the Indian Diaspora, Report of the high level committee on the Indian Diaspora, Ministry of External Affairs, New Delhi, 2001, P. 122-123.
3. सक्सेना, उपाराजे, ब्रिटेन में हिंदी, दिल्ली, मेधा बुक्स, 2006, पृ- 26
4. गगनांचल, प्रवासी अंक, अक्टूबर-दिसंबर, 2002, अंक-4, पृ. 12-13। सक्सेना, उपाराजे, ब्रिटेन में हिंदी, दिल्ली, मेधा बुक्स, 2006, पृ- 26
5. ठन्ना, स्वर्णलता, हिंदी के प्रवासी साहित्य की परंपरा, जनकृति अंतरराष्ट्रीय पत्रिका, दिसंबर- 2016, वर्ष-2, अंक-22
6. कृष्ण किशोर, प्रवासी मानसिकता: भाषा और सृजन, <http://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=722&pageno=1> access on 15/05/2017.
7. कृष्ण किशोर, प्रवासी मानसिकता: भाषा और सृजन <http://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=722&pageno=1> access on 15/05/2017.

⁷ कृष्ण किशोर, प्रवासी मानसिकता: भाषा और सृजन, <http://www.hindisamay.com/contentDetail.aspx?id=722&pageno=1> access on 15/05/2017.